स्त्री, दलित और अल्पसंख्यकों से इतनी दूर क्यों है वामपंथ?

राजेन्द्र यादव

'हंस' के संपादक श्री राजेंद्र यादव ने दलित मुक्ति, स्त्री और वाम आंदोलन से संबंधित कई महत्वपूर्ण सवाल इस साक्षात्कार में उठाए हैं। ज़ाहिर है इन पर मतभेद हो सकते हैं, परंतु वे निश्चित तौर पर गंभीर बहस की मांग करते हैं। यह दिलचस्प लगता है कि वाम विचारधारा में विश्वास व्यक्त करते हुए भी वे वर्तमान लोकतांत्रिक व्यवस्था में ही सभी उत्पीड़ितों की मुक्ति का स्वप्न देखते हैं।—अजेय कुमार, संपादक, उद्भावना।

आपने और 'हंस' ने दलित मुक्ति के सवाल पर बहुत सार्थक बहसें चलाई हैं। दलित मुक्ति से आपका क्या अभिप्राय है?

बहसें मैंने नहीं चलाई हैं, सिर्फ कुछ प्रॉब्लम्स हैं, उन्हें ही अंडरलाइन करने की कोशिश की है। मुझे लगा कि इन सवालों से टकराए बिना हम साहित्य या समाज पर आगे बातचीत नहीं कर पाएंगे। पहले एक खास किस्म का, शास्त्रीय किस्म का साहित्य था, जो आज भी विश्वविद्यालयों में होता है, वह अतीत की तरफ देखता था, जिसका समाज सुनिश्चित था, वह स्थिर और गतिहीन साहित्य था, वह अपने

ही बनाए पाठों के बाहर नहीं देखता था। वहां सारा भूगोल तय कर दिया गया था। हमें लगा कि सिर्फ टैक्स्ट को पढ़ना, साहित्य या रचना को अधूरा पढ़ना है। बिना बाहरी संदर्भों के आप मूल्यांकन के सही नतीजों पर नहीं पहुंचते। जैसे, अगर आप तुलसीदास को उनकी दी हुई पंक्तियों के आधार पर ही पढ़ेंगे तो बहुत अधूरा पढ़ेंगे। उसी में से आप समाजवाद निकाल लीजिए, उसी में से आप हिंदुत्व निकाल लीजिए, उसमें जो चाहे निकाल लीजिए। वहां सभी तरह की चौपाईयां मौजूद हैं। लेकिन देखना यह है कि उसका बाहर समाज पर या बाद के इतिहास पर इम्पैक्ट क्या है। रामायण बहुत उत्कृष्ट साहित्यिक रचना हो सकती है लेकिन क्या एक बहुत ही संकीर्ण किस्म के हिंदुत्व के प्रचार या उसके फैलाव में उसका जो रोल रहा है उसे हम रोक पाए हैं। अंध-भक्ति या पूजा को नज़रअंदाज करके हम तुलसी की महानता पर बात नहीं कर सकते। करेंगे तो हम प्रसंग से बाहर होंगे। पंडित लोग आज भी तुलसी की रट लगाए हुए हैं : इसमें दलित मुक्ति है, इसमें स्त्री मुक्ति है। जो चाहे निकालकर दिखा देते हैं चौपाइयों में से। और वे सब इसमें हैं। हमें यह लगा कि अगर साहित्य को समझना है तो उन शक्तियों को समझना होगा जो हाशियाकृत हैं, जिनकी तरफ ध्यान नहीं दिया गया, जिन्हें महान साहित्यिक रचनाओं में अनदेखा कर दिया गया। जैसे दलित का सवाल है, स्त्री-मुक्ति का सवाल है, अल्पसंख्यकों का सवाल है। ये वे लोग हैं जिन्हें साहित्य में प्रवेश करने की अनुमति नहीं रही, लिखने-पढ़ने की तो बात ही छोड़ दीजिए, पात्रों की तरह भी वे नहीं आए, आए तो विलेन या असुरों-राक्षसों के रूप में या बहुत ही उपेक्षित किस्म के प्राणियों की तरह आए। इसलिए मुझे जरूरत महसूस हुई कि मैं उन पर बहस शुरू करूं।

क्या आपको यह नहीं लगता कि हमने इसमें बहुत देर से प्रवेश किया है?

थोड़ा इसे स्वतंत्रता संग्राम के साथ जोड़कर देखना होगा जो लगभग गांधी का पर्याय हो गया। एक जन आंदोलन था जो स्वतंत्रता प्राप्ति के साथ ही ख़त्म हो गया। लेकिन उसी समय दूसरे लोग भी थे जिनके लिए राजनैतिक सत्ता परिवर्तन उतना महत्वपूर्ण नहीं था, जितने कि उनके अपने सामाजिक सवाल थे। उसमें मुसलमान भी थे, जिन्होंने अपना हिस्सा ले लिया, उसमें दलित अंबेडकर भी थे, जो अंग्रेज़ों से आग्रह कर रहे थे कि बिना समस्या सुलझाए कांग्रेसी सवर्णों को राजनैतिक सत्ता मत दीजिए क्योंकि ये उच्च-वर्ण के ब्राह्मणवादी किस्म के लोग हैं, इन्होंने 5 हज़ार साल हमें गुलाम बनाकर रखा है। आगे भी पांच हजार साल हमें सांस नहीं लेने देंगे। उनमें स्त्रियां भी थीं जिनके सवालों को उपेक्षित किया गया। इस तरह ये 4-5 मोटे-मोटे मुद्दे थे, जिन्हें यह मान लिया गया कि सत्ता प्राप्ति के साथ ही ये समस्याएं हल हो जाएंगी, लेकिन नहीं हुई। वे सारी समस्याएं सरकारी हो गईं। अपने सरोकारों और चिंताओं के तहत कांग्रेस ने उन्हें सरकारी योजनाओं में ले लिया। मगर सरकार की जो अफसरशाही थी, वो तो नहीं बदली थी। इससे दूसरा सिलसिला शुरू हो गया, वहां समाज कल्याण के नाम पर खाया-पिया जाने लगा, दलित, स्त्री के सवालों पर भी ऐसा ही हुआ। तमाम संस्थाएं बनाई गईं, जिनका कोई मतलब नहीं था। उधर लोकतंत्र ने यह अधिकार और अवसर दिए कि दबी कुचली शक्तियां सामने आएं। तभी से इनकी तरफ ध्यान जाने लगा। उनके जो उभार और आग्रह यानी एसर्शन थे, वो धीरे-धीरे ज्यादा उग्र रूप में दिखाई देते हैं सन्' 80 के बाद। तभी स्त्री-मुक्ति की बात आती है, तभी दलित मुक्ति की बात आती है, तभी अल्पसंख्यकों की समस्याएं आती हैं। चूंकि ये सब एक साथ उठ खड़ी हुईं, इसलिए ज्यादा आक्रामक दिखाई देती हैं। जो लोकतांत्रिक अधिकार उस समय इनके पास मौजूद नहीं थे और जो बाद में मिले उन हथियारों का उपयोग राजनैतिक सत्ता के रूप में या समानान्तर सत्ताओं के रूप में भी किया जाने लगा।



राजेंद्र जी, आपको यह नहीं लगता कि 80-85 तक हम सब लोग, खास तौर पर आपके समकालीन, शायद एक सपना पाले हुए थे कि समाजवाद आ जाएगा तो ये सारी समस्याएं हल हो जाएंगी। क्या स्त्री-मुक्ति और दलित मुक्ति के उभार का संबंध उस सपने के लगभग टूटने से तो नहीं है?

समाजवादी क्रांति ही क्यों, उस समय हमारा जो स्वतंत्रता संग्राम था, वहां भी एक अंधविश्वास बैठा हुआ था, कि स्वतंत्रता मिलेगी तो भारतीय समाज और राष्ट्र की सारी समस्याएं हल हो जाएंगी। वामपंथ के पास भी उसी तरह का एक अंधविश्वास था कि क्रांति होगी तो सब कुछ ठीक हो जाएगा। क्रांति लगभग भगवान का पयार्य हो गई थी, यानी हर चीज़ पर एक ही जवाब कि जब क्रांति होगी तो सब ठीक हो जाएगा। समस्याएं तो इतना इंतज़ार नहीं कर सकतीं। मध्यवर्ग के कार्यकर्ता तो क्रांति में लग गए, परंतु सामान्य आदमी कितने दिनों क्रांति का इंतज़ार करे? उधर क्रांति होती दिखाई नहीं दे रही थी। '50 के बाद के पहले दस साल लगभग इस उम्मीद में गुज़र गए कि शायद चीज़ें ठीक हो जाएंगी। लेकिन धीरे-धीरे सामने आने लगा कि स्थितियां और बिगड़ती चली गईं। यह वो प्रक्रिया थी जिसमें वामपंथ लगभग हाशियों पर खिसकता चला गया, जिसकी परिणति '90 में सोवियत संघ टूटने के साथ हुई। दलितों और स्त्रियों को लगा कि हमारी समस्याएं ये लोग हल नहीं कर पाएंगे। हमें खुद ही देखना पड़ेगा, अपनी बात सीधे-सीधे कहनी पड़ेगी। इनकी स्वतंत्रता और क्रांति के आश्वासनों से कोई हल निकलने वाला नहीं है। इसी हताशा और निराशा के कारण दलितों-स्त्रियों के बीच कुछ उग्र किस्म की प्रतिक्रियाएं हुईं। इस पीरियड में सारी शक्तियां एक साथ आती हैं। हिंदुत्व भी उसी आक्रामक ढंग से आता है, स्त्री और दलित भी आक्रामक ढंग से आते हैं। इन सबमें दबा हुआ जो दिखलाई देता है, वो मुसलमान है। बाबरी मस्जिद के ध्वंस के बाद वो उतना उग्र और उतना आक्रामक नहीं रह गया, वह एक खास तरह की असुरक्षा और भीतरी आतंक में जी रहा है। वह इस या उस राजनैतिक पार्टी में अपनी सुरक्षा देखता है। आज भी देशद्रोही या आतंकवादी कहकर कभी भी मारा जा सकता है।

किसी भी मुक्ति की बात करने के पीछे एक विचारधारा का होना बहुत जरूरी होता है। बिना एक दर्शन के, बिना एक समझ के, कि किस व्यवस्था में ऐसी मुक्ति संभव होगी? आपकी नज़र में किस व्यवस्था में दलित मुक्ति संभव है?

विचारधारा अपनी जगह अनिवार्य है मगर वह कहीं कार्यान्वित (इम्प्लीमेंट) होती दिखाई देगी तभी तो उस विचारधारा में विश्वास गहरा होता चला जाएगा। अगर यह लगे कि हमारी स्थितियां और हमारी समस्याएं वहीं की वहीं हैं, और विचारधारा सिर्फ एक बड़े सपने की तरह, एक यूटोपिया की तरह हमारे सामने है, तो इन दोनों की जो दूरी है, वही हमें धीरे-धीरे मोहभंग की ओर ले जाती है। यहां सवाल विचारधारा की परिवर्तन को लेकर विश्वसनीयता का है। विचारधारा सिर्फ बहसों में ज्यादा जीवित नहीं रहती। मार्क्सवाद सिर्फ बहसों की नहीं, स्थितियों को बदलने की विचारधारा है।

मुझे व्यक्तिगत तौर पर लगता है कि भारतीय परिवार में किसी भी विचारधारा ने प्रवेश नहीं किया। जो चेतनाशील युवक थे, वे परिवारों से बाहर मज़दूरों में, किसानों में या कहीं और बाहर ही क्रांति करते रहे, यानी किताबें पढ़ते रहे और बहसें करते रहे। परिवार जहां था, वहीं रहा। मध्यवर्गीय परिवार एक सामंतवादी मानसिकता और संस्कारों से ग्रस्त परिवार था, जहां पूजा-पाठ भी थे, जहां वो सारी ऊंच-नीच भी थी, सारे अंधविश्वास भी थे। इस न्यूक्लियस को कभी भी Penetrate नहीं किया गया। मज़दूर जब अपने काम पर होगा तो मज़दूर होगा, वहां हो सकता है कि ब्राह्मण की बगल में एक चमार काम कर रहा हो और उसे कोई आपत्ति न हो, इस स्थिति के साथ तो उसने समझौता कर लिया। लेकिन जब वो घर आएगा तो उसके साथ पूरे संस्कार और हिंदुत्व

की जड़ता होगी। ये परिवार लगभग अखंडित और अछूते बने रहे, उत्साही लोग बाहर क्रांति करते रहे, इसलिए कहीं भी कोई परिवर्तन होता दिखाई नहीं देता। आप देखेंगे कि अतीतवादी हिंदुत्व अक्सर इसी परिवार व्यवस्था की महिमा बहुत गाता है।

दूसरे, स्त्री को संपत्ति में हिस्सा न देना और उसे एक खास तरह की असुरक्षा और कृपा पर बनाए रखना, इसने परिवार के भीतर परिवर्तन नहीं होने दिया। हमारे वामपंथी लोगों की सबसे बेसिक कमज़ोरी यह भी रही कि हमारी असल बुनियादी समस्या कृषि और ज़मीन की थी, उधर किताबी मार्क्सवाद हमें बताता है कि मज़दूर समस्या सबसे बड़ी है। वाम आंदोलनों का 80 प्रतिशत केंद्रीकरण मज़दूरों पर हुआ, इन लोगों ने किसानों पर कम और मज़दूरों पर अधिक ध्यान दिया। हमारा देश उस तरीके से औद्योगीकृत समाज नहीं था जैसे यूरोप के अन्य देश थे। यूरोप-इंग्लैंड में अधिकांश कच्चा माल और कृषि उत्पादन, कॉलोनियों या उपनिवेशों से आता था, इसलिए वहां बड़ी-छोटी मिलों और मजदूरों की समस्याएं ही ज्यादा प्रमुख थीं। वहां ट्रेड यूनियनें ही मजदूर समस्या को समझने का उपयोगी स्रोत थीं। यहां या तो असंगठित मजदूर थे या बंधुआ किसान। कम्युनिस्ट पार्टियों ने ज़मीन की समस्या हल नहीं की, इसलिए कृषि, किसान और ज़मीन की समस्या को लेकर ही उग्र नक्सलवाद पैदा हुआ। 1960-65 में यह नक्सलवाद पैदा ही नहीं हुआ बल्कि इस आंदोलन ने ज्यादा लोगों को संगठित भी किया और जुझारू भी बनाया, यह काम अभिजात कम्युनिस्ट पार्टियां पिछले 60 साल में नहीं कर पाईं। कहीं-न-कहीं तो कोई ऐसी चीज़ थी जहां हमारे आग्रह गलत थे। मुझे आज भी याद है तब सारी लड़ाई और बहसें उद्धरणों की लड़ाई हुआ करती थीं। समस्या यह है और 'इसमें लेनिन ने यह कहा, फलां ने यह कहा', तमाम तरह के उद्धरण दिए जाते थे। वहां अपनी समस्याओं को अपनी तरह समझने की लड़ाई नहीं होती थी, वहां अधिक-से-अधिक किताबें हुआ करती थीं और बेहद रामबाण लगने वाले उद्धरण होते थे। बहुत ही किताबी और शास्त्रीय किस्म का एप्रोच था, उससे मुक्ति भी एक बहुत बड़ी समस्या थी। हमारे जो पुराने क्लॉसिक किस्म के कम्युनिस्ट हैं, वे आज भी उस खोल से बाहर निकलने को तैयार नहीं हैं। आज भी वे हर बात में दस जगह लेनिन, दस जगह मार्क्स, दस जगह स्टॉलिन उद्धृत करते हैं। उन्होंने शायद ही कभी इस पर विचार किया हो कि अशिक्षित और असाक्षर सर्वहारा, विदेशी समस्याओं और संदर्भों को कितना समझेगा या उन्हें कैसे अपनी स्थितियों से जोड़कर देखेगा? ज्यादा-से-ज्यादा वो उन्हें रट लेगा। चूंकि ज़मीन की समस्या हल नहीं की गई इसलिए श्रम शोषण यानी दलितों की स्थिति में भी कोई बहुत परिवर्तन नहीं आया। हमारी मूलभूत सच्चाई तो वर्ण, यानी जाति थी। वर्ण से मुठभेड़ किए बिना आप वर्ग पर नहीं आ सकते। हमारे यहां की वास्तविकता यही है, किताबों में चाहे जो कुछ भी लिखा हो। उसको जब तक हल नहीं करेंगे, आप सर्वहारा को वर्ग में परिणत नहीं कर सकते। जाति उसकी पहले है, वर्ग बाद में है। जाति में एक खास तरह की जड़ता या गतिहीनता होती है। वहां सामाजिक गतिशीलता नहीं होती। जो जिस जाति में है, वह वहीं रहेगा। खास तौर से दलित ज़िंदगी भर अपनी जाति से मुक्ति नहीं पा सकता। वर्ग आप बदल सकते हैं, अपने श्रम से, अपनी स्थितियों से। हो सकता है कि आज आप भूखे मर रहे हैं, कल सुविधा पाकर अच्छे-खासे मध्य वर्गीय हो जाएं। अवसर की यह उपलब्धता दलित के पास नहीं है। उसके साथ जुड़ी हुई है असुरक्षा, दरिद्रता, अभाव, अज्ञान और स्थिति-बद्धता, जहां हो वहीं बने रहो। यह स्थिति-बद्धता समाजिक रूप से भी है और भौगोलिक रूप से भी है। खेती के लिए ज़मींदार को स्थायी किस्म के मजदूर चाहिएं। कल को अगर किसान, धोबी, चमार भाग जाएगा तो हमारे ये काम कौन करेगा, हमारे जानवरों की देखभाल कौन करेगा। बहुत-सी हत्याएं इसलिए भी हुईं कि परिवार



में जो पढ़ा-लिखा नया युवक था जैसे 'गोदान' में गोबर, वह शहर चला गया और मां-बाप उसके पास जाना चाहते हैं। इस व्यवस्था से चिपके लोग नई चीज़ें सामने नहीं आने देना चाहते। इसी स्थिरता और गतिहीनता को वर्ग की समझ के आधार पर समाप्त नहीं किया जा सकता।

आप वर्ग के आधार पर समस्या हल नहीं कर सकते तो किस आधार पर करेंगे?

जाति के वर्गांतरण द्वारा। जाति की समस्या को वर्ग की समस्या का प्राथमिक चरण मानकर।

कौन-सी व्यवस्था में जाति समस्या हल हो सकती है?

आर्थिक मजबूरियों के साथ वहां संस्कार भी हैं, पीछे पुर्नजन्म लगा है, भगवान और पुरोहित भी लगा है। उस धरातल पर जो प्रशिक्षण होना चाहिए था, वह नहीं हुआ। सबसे बड़ी गलती कम्युनिस्ट पार्टी की यह रही है कि उन्होंने पहले से जागरूक युवा को, जो 15-20 साल की उम्र का था जो पढ़-लिख सकता था, सोच-विचार कर सकता था, उसे ही अपने साथ लिया। जबकि हिंदुत्ववादियों ने चार-पांच साल के बच्चों के लिए हज़ारों-लाखों की संख्या में शिशु मंदिर तैयार कर दिए।

उम्र बढ़ने की हद तक आते हुए युवक के विचार तो बदलने लगते हैं परंतु संस्कार वही रहते हैं, जो उसे बचपन में दिए गए थे। नतीजे में, कम्युनिस्ट पार्टी पर भी वही ब्राह्मणवाद, उच्च जातियों का वर्चस्व रहा। वही उस वक्त सबसे ज्यादा शिक्षित थे, वही सबसे ज्यादा जागरूक थे, उन्हें आपने तब पकड़ा था जब वे किशोर थे, एक ऐसी उम्र में जहां मन पर गहरी छाप, इम्प्रेशन सबसे आसानी से पड़ता है। नीचे वाली जमीनी स्थितियां तो नहीं बदलीं। हमने बहुत डायनॉमिक किस्म के बुद्धिजीवी पैदा कर दिए जिनके लिए सारी दुनिया का ज्ञान खुला था, पर उसका फायदा निचले लोगों को नहीं मिला। जिस तरह से क्रिश्चियनों ने उनको बचपन से संस्कार, शिक्षा, सुविधा, चिकित्सा, रोजगार और अवसर सभी चीज़ें दीं, और साथ-साथ धर्म भी दिया। धर्म का मतलब एक विचार भी है। प्रक्रिया उसी तरह की अपनाई जानी चाहिए थी। हमें बहुत प्रारंभिक स्तर पर, प्राइमरी स्कूल इत्यादि शुरू करने चाहिए थे। वहां आप संस्कार दे सकते हैं, तभी जाति से छुटकारा हो सकता है। जब तक आप ग्रास-रूट या तृण-मूल से ही वो परिवर्तन शुरू नहीं करेंगे, दलितों का सशक्तीकरण और आत्मचेतना संभव नहीं है।

आपकी नज़र में कौन-से ऐसे संगठन हैं जो इस समझ को लेकर चल रहे हैं, और दलित समस्या को हल कर रहे हैं।

दलित समस्या को तो आज दलित खुद हल कर रहे हैं, बाहर वाले हल नहीं कर पा रहे हैं। बच्चों और स्त्रियों को लेकर शिक्षा में एक सामाजिक क्रांति फुले ने शुरू की, उन्होंने पहले स्त्रियों के लिए स्कूल खोले। वही सही एप्रोच था। जो दलित संगठन, दलित बुद्धिजीवी या दलित कार्यकर्ता हैं, वही अपने समाज के लिए सबसे ज्यादा सार्थक काम कर रहे हैं। सवर्णों द्वारा चलाए गए स्कूलों में तो चमार या नीची जातियों को आने ही नहीं दिया जाता था। सारी दलित आत्मकथाएं यही कहती हैं कि उनकी सारी समस्याएं स्कूल और सवर्ण अध्यापकों से शुरू होती हैं जहां से छात्र को भगा दिया जाता है, मारा-पीटा जाता है, कहा जाता है कि भंगी हो, सफाई करो, तुम्हारे बाप-दादा यही करते थे इत्यादि। कृपा करके पढ़ाया भी गया तो दूर या बाहर बैठाकर। आज जो दलित ऊपर आए हैं वे प्रारंभिक पाठशालाओं के आतंककारी माहौल से लड़ते हुए ही आए हैं।

दलितों के नाम पर चल रहे संगठनों में भी आप पाएंगे कि वहां भी उच्चवर्गीय लोगों का ही वर्चस्व है। उनके नेतृत्व ने शायद ही कभी झुग्गी-झोंपड़ी में जाकर हालात को देखा होगा?

इसे मानने में मुझे कोई आपत्ति नहीं है कि राजनीति और सत्ता का खेल इलीट का खेल है। संपन्न, शिक्षित और

जागरूक लोगों का खेल है। अपनी जाति में भी वही लोग राजनीति और सत्ता के संघर्ष में हिस्सेदारी कर सकते हैं जो ज्यादा प्रबुद्ध और जागरूक हैं। पहली स्थिति तो यह है कि सबसे निचले लोग स्वयं नेतृत्व में नहीं होते, वहां होते हैं उनकी नुमाइंदगी करने वाले। जगजीवन राम वो दलित नहीं हैं जो चमड़ा छीलता है या जानवर मारता है। इसमें दूसरी बात यह कि कांग्रेस और अन्य संगठनों में दिखावे के लिए Tokenism की तरह एकाध दलित रख लिया जाता है। जिन्हें आपने अपने में शामिल कर लिया, वो नाम के सिवा कहीं दलित नहीं है। न व्यवहार में, न सोच में, न एप्रोच में। जैसे कांग्रेस ब्राह्मणों, बनियों और क्षत्रियों का संगठन माना जाता है (वहां क्षत्रिय बहुत कम हैं) पहले तो कांग्रेस ही मुख्य संगठन था। दूसरा परिवर्तन यह हुआ कि दलितों ने अपने नेता निकाले। वे सामने आए। जो उनसे नेगोशिएट भी कर सकते थे, सौदे भी कर सकते थे, उन्हें आश्वासन में भी बनाए रख सकते थे। वर्ग-संघर्ष की भावना यहीं से शुरू होती है और आगे जाकर अपने ही लोग कह सकते हैं कि भई आप लोग हमारे नाम पर खा-पी रहे हो, मस्ती कर रहे हो, हमें भी तो कुछ मिलना चाहिए। तो यह असंतोष उनके अपने भीतर के अंतर्विरोधों से पैदा होगा, जहां वे मांग करेंगे कि यह जो राजनैतिक नुमाइंदगी है, इसका स्वरूप बदला जाना चाहिए।

शासक वर्ग यही तो करता है। वे इन दलित नेताओं को गोद ले लेता है। जो भी दलित नेता हमारे सामने हैं चाहे वे मायावती हों, रामविलास पासवान हों, चाहे कोई और हैं, सबके सब शासक वर्ग की शरण में पहुंच जाते हैं।

सत्ता का खेल तो एक ही है। गोद लिए जाने होने से कैसे बचा जाए, यही सबसे जटिल समस्या है क्योंकि 50 लाख लोग तो संसद में बैठेंगे नहीं। बैठेंगे तो वही 100-50 लोग। वे कैसे जनता के फायदे की बात सोचें, उसके हित में कार्यक्रम लागू कराएं, जिसकी वजह से वे संसद में हैं। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि लोकतांत्रिक व्यवस्था की अपनी अच्छाइयां और बुराइयां हैं। वो अधिकार तो देता है लेकिन अधिकार के साथ बलपूर्वक कर्तव्य निर्धारित नहीं करता। निरंकुश किस्म के अधिकारों और इन पर नियंत्रण रखने के लिए जो स्वायत्त संस्थाएं चाहिएं, वो संस्थाएं लगातार कमज़ोर और ध्वस्त होती चली जा रही हैं। स्वायत्त किस्म की ऐसी संस्थाएं बहुत जरूरी हैं, जो इन पर अंकुश लगाएं, इन्हें जवाबदेह बनाएं और जरूरत हो तो चुनाव निरस्त करके इन्हें वापस भेज दें। कहना चाहिए कि बहुत ही अराजक किस्म की डेमोक्रेसी हमारे यहां है, जहां पर भरे हैं बाहुबली, पैसे वाले, अपराधी, जाति प्रधान, बूथ लूटने वाले और राजनैतिक दबाव बनाने वाले। अब उन सबको कैसे अनुशासित नियंत्रित किया जाए, बेसिक समस्या यह है। मुझे यही लगता है, कि डेमोक्रेसी के सिवा और कोई बेहतर विकल्प सामने नहीं है, अब हम उसका कितना सही उपयोग या दुरुपयोग करते हैं, यह हमारे ऊपर है। इस पर बात करनी चाहिए कि इसे सुधारा कैसे जाए। ज़रूरत यही है—शिक्षा, जागरूकता, स्वायत्त संस्थाएं जो उन पर अंकुश भी रखेंगी और जिम्मेदार या जवाबदेह भी बनाएंगी।

पश्चिम बंगाल में अगर आप भूमि सुधार को देखें और उसके परिणामस्वरूप उसके लाभ जिन-जिन लोगों को पहुंचे हैं, उन्हें देखें और जिसका पूरा विश्लेषण *इकनॉमिक एंड पॉलिटीकल* वीकली में किया गया था, तो हम पाते हैं कि उसका लाभ दलितों और अल्पसंख्यकों को पहुंचा है। यही कारण है कि वहां कोई दलित संगठन अपनी जगह नहीं बना पा रहा है। आंध्र प्रदेश में जहां कम्युनिस्ट आंदोलन का बड़ा इतिहास रहा है और आज भी कम्युनिस्टों के साथ-साथ कई नक्सलवादी संगठन सक्रिय हैं, वहां ये दलित संगठन कुछ नहीं कर पाते।

बिहार में भी यही है। बिहार और आंध्र प्रदेश में जो नक्सल ग्रुप हैं, उनमें अधिकतर दलित हैं। बिहार में तो 90 प्रतिशत दलित ही हैं। जब भी मारे जाते हैं तो ये दलित



ही मारे जाते हैं। यह हो सकता है कि उनके लीडर विनोद मिश्र या दीपंकर या इस तरह के लोग हों, परंतु उनका कैडर अधिकतर दलित ही है। इसलिए अलग से दलित मूवमेंट की वहां जरूरत नहीं है। अलग से दलित मूवमेंट वहां है जहां उनकी बात नहीं सुनी जाती या उन्हें यह नहीं लगता कि स्थितियों को बदलने में हमारी अपनी कोई भूमिका है।

क्या आपको यह नहीं लगता कि जहां वाम नहीं है, वहां दलित संगठन हैं?

वाम क्यों नहीं है? मेरा सवाल यह है कि दलित आंदोलन अगर सर्वहारा आंदोलन है तो वाम वहां क्यों नहीं है? पूरे उत्तर भारत में, राजस्थान, म. प्र. में वाम क्यों नहीं है? सोचने की बात यही है कि क्या यह वाम-पार्टियों की असफलता है? आप यह तो कह सकते हैं कि आंध्र और बिहार में वाम और दलित मिल गए हैं, हो सकता है उन्होंने मिल-जुलकर साझा रणनीतियां बना ली हों। परंतु इन तीन बड़े राज्यों—म. प्र., उ. प्र. और राजस्थान में वाम क्यों नहीं है? यह पूरी अनुपस्थिति क्यों है, क्या कभी इन लोगों ने विचार किया है? वाम अगर किसी सर्वहारा आंदोलन से अपने आपको जोड़ सकता है तो वह दलित आंदोलन ही है। यह मुझे या हम सबको सचमुच चकित करता है कि संस्कृति की तरह कम्युनिस्ट पार्टियों में न अलग से दलित-समस्याओं पर विचार किया गया, न स्त्री और अल्पसंख्यकों की समस्याओं पर। नतीजे में ये सारे संगठन वाम राजनीति से दूरी बनाए रहे। यह स्थिति कम्युनिस्टों की चिंता का विषय क्यों नहीं है? वे अभी इस अंधविश्वास से बाहर नहीं आ पा रहे कि वर्ग-संघर्ष हर समस्या को हल कर देगा।

दलित आंदोलन को हम दलित आंदोलन क्यों कहते हैं? क्या इसलिए कि उसका नेता दलित है या उसके पीछे लगने वाले लोग दलित हैं? अगर सी.पी. एम. या एम. एल. का कोई नेता कहीं दलितों, आदिवासियों, अल्पसंख्यकों का एक बड़ा मोर्चा लगाता है तो क्या वह दलित-आंदोलन नहीं है? यानी दलित आंदोलन तभी दलित है जब उसका नेता दलित है।

जहां दलितों को यह लगता है कि जो मांगें वे उठाना चाहते हैं, वहां उन्हें भी शामिल कर लिया गया है, वहां वे उन्हें अलग से और मिलकर उठा रहे हैं। बड़ी पार्टियों की मांगों की सूची में वे अधिकतर अपने आपको छूटा हुआ महसूस करते हैं। कहिए कि यहां वाम या कम्युनिस्टों का संतोषजनक और एक्सक्यूलिव सहयोग उन्हें नहीं मिला, वर्ना इस अलगाव की स्थिति का कोई और कारण मुझे दिखाई नहीं देता। उसके बावजूद अगर दलित आंदोलन है तो उसके भटकाव की बहुत ज्यादा संभावनाएं हैं क्योंकि वामपंथ एक विचारधारा तो देता है। सत्ता प्राप्त करने के सिवा दलित आंदोलन की आज कोई विचारधारा नहीं है। इनकी सारी मांग सत्ता मांगने की है। समाज को सुधारने या शिक्षित करने की चिंताएं उनकी नहीं हैं। चूंकि विचारहीनता है, इसलिए वाम आंदोलन नहीं है या चूंकि वाम आंदोलन नहीं है, इसलिए कोई विचारधारात्मक प्रतिबद्धता नहीं है। यह सच है कि जितने भी दलित संगठन हैं, अगर इन्हें कोई विचारधारा नहीं मिली तो ऐसे ही भटकाव आएंगे। और जो विचारधारा इनके सबसे नजदीक हो सकती है, वह वामपंथी विचारधारा ही है। यह अगर नहीं मिली तो छोटी-छोटी क्षेत्रीय मांगों या अवसरों में ही वे अपनी शक्तियां व्यर्थ कर देंगे।

राष्ट्रीय स्तर पर वामपंथी आंदोलन के असमान विकास के कार्यों की ऐतिहासिक दृष्टि से जांच पड़ताल करने पर पता चलता है कि स्वाधीनता आंदोलन स्वयं भी असमान था, किसान आंदोलन भी असमान रूप से विकसित हुआ, यहां तक कि ट्रेड यूनियन आंदोलन और औद्योगिक दृष्टि से पूंजीवादी प्रगति भी असमान रूप से परिलक्षित होती है। क्षेत्रीय असमानता के भिन्न-भिन्न रूप आज मौजूद हैं। अंग्रेजी राज में रियासतों के अंदर स्वाधीनता आंदोलन और किसान आंदोलन के असमान विकास को आंखों से ओझल

करने पर वास्तविक तथ्यों का खुलासा नहीं हो पाता। ट्रावैंकोर-कोचीन में स्वाधीनता आंदोलन और किसान आंदोलन का विकास संभव हो सका। इसी तरह निजाम के विरुद्ध तेलंगाना क्षेत्र में, त्रिपुरा के महाराजा के विरुद्ध त्रिपुरा में, दरभंगा महाराज के विरुद्ध मिथिला के विभिन्न अंचलों में स्वाधीनता आंदोलन और किसान आंदोलन संभव हो सका। जिन-जिन रियासतों में ऐसा हुआ वहां कम्युनिस्ट आंदोलन का भी प्रचार हुआ। पर जिन रियासतों में ऐसा नहीं हुआ वहां वामपंथी आंदोलन के प्रसार में भयंकर बाधाएं मौजूद हैं। उदाहरण के लिए मध्यप्रदेश, राजस्थान, कर्नाटक, हिमाचल प्रदेश आदि की ब्रिटिश कालीन रियासतों के क्षेत्रों को देखा जा सकता है। इन रियासतों में रियासत के महाराजा की ओर से ही भाजपा का या राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ का आधार निर्मित किया गया है। क्या आप इस बात से सहमत नहीं हैं?

राजशाही वाली रियासतों की बात सही है क्योंकि वहां इस तरह के कोई आंदोलन नहीं पनपने दिए गए। इतना ही नहीं, वहां हिंदुत्ववादी आंदोलन राज्य के संरक्षण में प्रबल होते चले गए। हिंदू महासभा, प्रजामंडल पार्टी इत्यादि राज्य से ही जुड़े लोग थे। दरभंगा वाली बात जो आपने कही, वह विचार करने की है क्योंकि शायद वहां कोई जबर्दस्त हिंदुत्ववादी आंदोलन नहीं स्वामी सहजानंद का आंदोलन था। मेरे लिए यह चकित करनेवाली बात थी कि जब मैं पिछले दिनों बेगूसराय गया, आसपास 30-40 कि.मी., शहर के अंदर भी, सबसे कम मंदिर मुझे दिखाई दिए। मंदिर तो थे, परंतु बहुत कम, कहीं कोई एकाध छोटा-मोटा मिल जाता था, लेकिन उ. प्र. में आप किसी गांव या शहर में 10 कदम नहीं चल सकते वहां आपको कोई-न-कोई हनुमान, कोई-न-कोई शिव मंदिर जरूर मिल जाएगा। आप बस स्टाप चले जाइए, तीन-चार मंदिर एक साथ मिल जाएंगे। मुझे लगा कि धार्मिक वर्चस्व वहां कम है। जैसे पंजाब में, अन्य राज्यों के मुकाबले, कम्युनिस्ट आंदोलन था। पंजाबी किसानों में असंतोष था। उसकी वजह भी यही है कि वहां ब्राह्मणों का वर्चस्व वैसा नहीं था जैसा उत्तर प्रदेश वगैरह में है। अकारण नहीं है कि बी. जे.पी. का एक सूत्री कार्यक्रम मंदिर बनवाना और तीर्थों का विकास करना है। मयूर विहार में ही हजारों एकड़ में अरबों रुपए लगाकर अक्षरधाम बनाया जा रहा है।

उत्तर प्रदेश तो खास तौर से अलग से देखने की चीज है। यह एक ऐसा जहरीला *न्यूक्लियस* है जो सारे देश को जहरबाद बनाता है क्योंकि हिंदुत्व को जिलाए रखने वाले चारों भगवान यहीं पैदा हुए। कृष्ण यहां पैदा हुए, राम यहां पैदा हुए, शिव यहां पैदा हुए, और इसी के आसपास बुद्ध यहां पैदा हुए। इनके साथ जुड़े तीर्थों के कारण करोड़ों की संख्या में परजीवी निकम्मे साधु यहां पैदा हुए। इन लोगों ने जो पैरासाइट किस्म के धार्मिक पाखंड तैयार किए, इनकी वजह से, पुनर्जन्म, भगवान, इत्यादि के संस्कार और ज्यादा गहरे हुए जिससे कम्युनिस्ट आंदोलन यहां नहीं पैदा हो सका। यहीं पर हिंदुत्व के सारे शक्ति स्रोत हैं। अगर उत्तर प्रदेश न हो तो बी.जे.पी. कल मर जाए। सबसे ज्यादा खाद पानी इन्हें काशी, मथुरा, अयोध्या से ही मिल रहा है। स्थितियां बदलने के लिए आक्रामक प्रशिक्षण की जरूरत थी, उसके लिए स्थानीय सहयोग नहीं था। इसलिए यहां कम्युनिस्ट आंदोलन मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों या प्राध्यापकों तक ही रह गया।

क्या आज आपको लगता है कि जिस समाजवाद का सपना हमने देखा था, वह खत्म हो चुका है?

इस मामले में मैं बहुत साफ हूं। क्योंकि जब कम्युनिस्टों ने संसदीय प्रणाली को स्वीकार किया तो धीरे-धीरे उन सभी कमियों, बुराइयों, कमज़ोरियों के लिए स्वागत द्वार खोल दिए जो इस व्यवस्था में आ सकती थीं, चुनाव जीतने की एक प्रचंड इमेज, जातिवाद, बाहुबल, इन सबका इस्तेमाल किया जाता है। कम्युनिस्टों ने भी किया। खास तौर से जाति का। लेकिन अब जो हमारी स्थिति है, उसमें डेमोक्रेसी के सिवा



कोई विकल्प भी तो नहीं है। डेमोक्रेसी में आकर हमारे क्रांतिकारियों के सब नखदंत टूट गए। आप देखेंगे कि पार्टी सिर्फ कुछ बुद्धिजीवियों, कुछ सीमित लोगों की इसलिए भी रह गई कि धीरे-धीरे संसद में आने के बाद इनका संपर्क, अपने बाकी कैडर और लोगों से लगभग टूट गया। मुझे नहीं मालूम वहां नया या युवा कैडर आ भी रहा है या नहीं। विद्यार्थी-वर्ग में इनकी कमजोर उपस्थिति चिंता पैदा करती है। अब वो एक बहस और टी.वी. चैनलों में वक्तव्यों की पार्टी ज्यादा है, काम की कम।

क्या आपको लगता है कि पश्चिम बंगाल में जो इतने वर्ष सरकार चली है, वह केवल बाहुबल पर चली है? क्या वहां कोई आंदोलन नहीं है?

वह जहां है, वह वहीं तक सीमित है। वहां से आगे क्यों नहीं बढ़ी 25 साल में? अगर मार्क्सवाद एक गतिशील विचारधारा है तो उसे अपनी भौगोलिक सीमाएं पार करनी चाहिएं। क्या वजह है कि जो राजनैतिक दल Defensive पर होता है, वह वहीं-का-वहीं टिका रहता है, कि भई दुश्मनों से घिरे हुए हैं, बचाव करना है। वही स्थिति सोवियत रूस की थी। सारी दुनिया दुश्मन थी, उनके खिलाफ थी, यह मजबूरी थी कि वो अपने तक सीमित रहें या जो उनके प्रभाव-क्षेत्र थे, उन्हें जैसे-तैसे बचाए रखें। ऐसी स्थिति तो यहां नहीं है। फिर क्या वजह है? सबसे ज्यादा चिंता इस बात की होनी चाहिए कि ये क्यों नहीं आगे बढ़े। केरल गंभीर संकट से गुज़र रहा है, अब वह उतना निर्विरोध वामपंथी गढ़ नहीं रह गया है। वहां कांग्रेसी भी हैं, और अब तो बी.जे. पी. भी घुस गई है।

दूसरी बात यह है कि हो सकता है कि वामपंथ के क्लासिकल रूप की चिंता किए बिना अन्य पार्टियां उनके कुछ मुद्दों को अपने में शामिल कर लें। यानी उसे आना तो है ही, हो सकता है कि वह टुकड़ों में आए। हो सकता है कि समानता की आकांक्षा और सामाजिक न्याय या अवसरों के लोकतंत्रीकरण की बात, जो कभी कम्युनिस्ट उठाया करते थे...

आज भी वे उठाते हैं।

...मगर आज उन्हें बी.जे.पी. ने भी ले लिया, और कांग्रेस ने भी ले लिया। उनके अधिकांश मुख्य मुद्दे उनसे छीन लिए गए। उसने भी एक बड़ा काम यह किया कि उन पार्टियों ने इन मुद्दों का बंटाधार कर डाला, उससे काफी कंफ्यूज़न पैदा हुआ। बंगाल के कम्युनिस्ट आंदोलन में एक और बात भी ध्यान खींचती है। उन्होंने औद्योगिक इकाइयों को लेकर उसी रवैये, दबाव और मांग-पत्रों पर जोर दिया जो यूरोप के विकसित उद्योग में होता है; उन्होंने शायद ही कभी सोचा हो कि क्या विकासशील उद्योग उतना बोझ बर्दाश्त कर पाएंगे? नतीजे में बंगाल की सारी औद्योगिक इकाइयां बंद होती चली गईं या दूसरी जगहों पर ले जाई गईं। लाखों बेकार मजदूरों का क्या हुआ, कोई नहीं जानता। मगर कम्युनिस्ट पार्टियां निश्चय ही उन्हें कोई वैकल्पिक आधार नहीं दे पाईं--ऐसे में लुम्पनाईजेशन की प्रक्रिया यानी पलायन, अपराध और दक्षिणपंथी राजनीति ही उनकी उद्धारकर्ता बनती हैं।

आपको यह लगता है कि इस लोकतंत्र से सारी समस्याएं हल होंगी। यह लोकतंत्र तो अमीरों का, शासक वर्ग का लोकतंत्र है। इसमें तो वही होगा जो शासक वर्ग चाहेगा। आप चाहे जितने मर्जी दलित संगठन खड़े कर दीजिए, दलित का कभी उद्धार नहीं होगा अगर भूमि सुधार नहीं होगा और कृषि क्रांति नहीं होगी। यह तो आप मानते हैं या नहीं। लेकिन कृषि क्रांति करता हुआ आपको कोई दिखाई नहीं दे रहा।

एकमात्र जो थोड़े बहुत करते दिखाई देते हैं, वे नक्सली हैं। मगर एक तो यह है कि उनके बीच आपस में इतनी भयंकर दुश्मनियां और असहिष्णुताएं हैं कि वे निर्द्वंद्व भाव एक दूसरे की हत्याएं करते रहते हैं। कभी कोई एकजुट होने जैसी बात सोची गई हो, की गई हो, या सफल हुई हो, कहीं

दिखाई नहीं देती। सब दल अलग-अलग हैं। दूसरी बात यह है कि जिस पर हमें पुनर्विचार करना चाहिए वह है सर्वहारा की डिक्टेटरशिप। डिक्टेटरशिप शब्द अपने आप में बहुत संदेह पैदा करता है।

आपको **Dictatorship of the Bourgeoisie** पर कोई एतराज़ नहीं है। आज क्या केवल उन्हीं की नहीं चलती?

किसने कहा एतराज़ नहीं है? लेकिन आज यह शब्द इतना बदनाम हो गया है कि आप चाहें तो इसकी जगह कोई और शब्द ले सकते हैं। वे भी बोर्जुआजी की डिक्टेटरशिप नहीं कहते, हम कहते हैं। वस्तुतः 'वर्ग का वर्चस्व' जैसा शब्द कुछ अधिक आसान है। कभी-कभी शब्दों को बदलना पड़ता है। डिक्टेटर कहने से हमारे सामने हिटलर खड़ा होता है, मुसोलिनी और फ्रेंको खड़े होते हैं। Dictatorship of the Proletariat तब थी जब स्टालिन था। वो भी तो सिमटकर पांच आदमियों में रह जाती है, एक आदमी में रह जाती है। मैं यह नहीं कहता कि डेमोक्रेसी ही सबसे अच्छा रास्ता है लेकिन अब विकल्प के रूप में केवल डेमोक्रेसी दिखाई देती है। क्या मार्क्सवादी अपनी पुरानी भाषा को आज के हिसाब से रिफ्रेज नहीं कर सकते? जैसे बी.जे.पी. कट्टर हिंदुत्व को 'भारतीयता' या 'राष्ट्रीयता' बनाने में जुटी हुई है। कभी-कभी सामान्य स्वीकृति भाषा या शब्दावली भी बहुत बड़ी बाधा और सुविधा बन जाती है।

जो लोकतंत्र हमें यूरोप और अमरीका में दिखाई देता है, क्या उसने आज तक कोई समस्या हल की है। वह लोकतंत्र इराक पर बमबारी करता है। ऐसे लोकतंत्र ने दुनिया की कौन-सी समस्या हल की है?

हल नहीं की। दूसरी कौन-सी व्यवस्था है आप बताइए? ठीक है, इराक पर हमला किया, लेकिन इसी मुद्दे पर दुनिया के सबसे बड़े प्रदर्शन भी यूरोप और अमरीका में ही हुए। जहां 10-15 लाख एक साथ प्रदर्शन कर सकें और मांग कर सकें कि यह गलत है, यह संभावना और गुंजाइश भी इसी लोकतंत्र ने दी। लोकतंत्र हमें अपनी ज्यादतियों के खिलाफ करैक्टिव-मैज़र की सुविधा भी तो देता है, और कलैक्टिव प्रतिरोध की जरूरत भी बनाता है।

लंदन में 15 लाख लोगों ने प्रदर्शन किया, तो क्या इससे इराक पर बमबारी रुक गई? उन्होंने वही किया जो शासक वर्ग चाहता था। वही यहां भी हो रहा है। आप रामविलास पासवान या मायावती के माध्यम से दलितों की मूल समस्याएं हल नहीं कर सकते।

आज आप उनकी आवाज़ का तो ग्लोबलाइजेशन कर सकते हैं। मौका मिलने पर बदल भी सकते हैं। अच्छा, दूसरी कौन-सी व्यवस्था है जिसकी सिफारिश करना चाहते हैं?

मैं तो आपसे पूछ रहा हूं।

यह मेरे लिए ही क्यों, हम सभी के सामने प्रश्न है। अपनी खामियों और कमज़ोरियों के साथ, जो बात आप कर रहे हैं, एक मात्र विकल्प जो इस समय सामने दिखाई दे रहा है वह लोकतंत्र ही है, चाहें तो उसे समाजवादी लोकतंत्र का नाम दे दें। मिलाप के तौर पर मैं कहूं कि हमने बाजार के ग्लोबलाइजेशन, सारे पूर्व उपनिवेशों को उपभोक्ताओं में बदलने के खतरों और कैंसर की बातें तो बहुत कीं, मगर असंतोष, प्रतिरोध को जो अवसर यह ग्लोबलाइजेशन देता है, उस पर विचार क्यों नहीं किया गया?

आज मुझे एक भी दलित संगठन ऐसा दिखाई नहीं देता जिसके नेता बिकने के लिए तैयार नहीं हैं। आप कम्युनिस्टों को बेशक सौ गालियां दे लें, परंतु वे लोग ऐसे नहीं जो बिक जाएं, जो भ्रष्ट तौर-तरीकों में हिस्सेदारी करें, जो बेइमानी करें, किसी डील में पैसा खाएं।

यह मैं शुरू से कहता रहा हूं कि 55 साल की राजनीति में यही केवल एक मात्र पार्टी है जिसे बेदाग कहा जा सकता है, जिस पर सौदेबाजी, बिकने-खरीदने का कोई आरोप नहीं है। लेकिन फिर वही बात है, कि यह सब होने के बावजूद वे निष्प्रभावी हैं, देश की राजनीति में, संसद में वे फैसलाकुन,



डिसाइसिव नहीं है, ये केवल कमजोर विकल्प हैं। आज अगर वे अपना समर्थन खींच लें और सरकार गिर जाएगी परिणामतः बी.जे.पी. फिर सत्ता में होगी।

ये आपको निष्प्रभावी दिखाई देते हैं, अगर ऐसा है तो प्रभावशाली कौन है?

भाजपा प्रभावी है। वह लोगों को इमोशनली ब्लैक मेल कर सकती है, धार्मिक और सांप्रदायिक भावनाएं भड़काकर एकजुट कर सकती है। उनके पास विचार नहीं है, मगर धर्म और नस्ली श्रेष्ठता तो है। कह सकते हैं फासिज्म है। बी.जे.पी. गिरोह के पास आहत और उपेक्षित हिंदुत्व को बहुसंख्यकों के धौंसवाद में बदलने की अचूक रणनीतियां हैं, वे कभी भी और कहीं भी थोड़ी-सी मेहनत से गुजरात की लेबोरेटरी वाले प्रयोग कर सकते हैं।

सवाल इस वक्त दलितों, पिछड़ों और आर्थिक रूप से उत्पीड़ित लोगों को एकजुट करने का है। आबादी के इन हिस्सों की समस्याओं को हल करने में कौन सबसे अधिक प्रभावशाली है?

आज की तारीख में कोई नहीं है। होना चाहिए, यह अलग बात है। दलित अपनी समस्याएं अपने-अपने ढंग से खुद ही हल करने की कोशिश कर रहे हैं। जैसा कि मैंने पहले कहा कि उनके यहां एक विचारहीनता है, इसलिए आसानी से उन्हें खरीदा जा सकता है, तोड़ा जा सकता है, लड़ाया जा सकता है, और इस्तेमाल किया जा सकता है जैसा कि गुजरात में किया गया। क्योंकि वहां वैचारिक रूप से कोई प्रशिक्षण नहीं है, कोई तैयारी नहीं है। मैंने शुरू में ही कहा था, सिर्फ कम्युनिस्ट पार्टी और वामपंथी विचारधारा ही है जो इन्हें प्रभावशाली समुदाय की तरह अपने आंदोलन का हिस्सा बना सकती है, और इस पर इन वामपंथी बुद्धिजीवियों को विचार करना चाहिए कि हम इन दलित संगठनों से कैसे जुड़ें। दलित नेता नहीं जुड़ना चाहते, उन्हें डर लगता है, यह स्वाभाविक भी है। लेकिन जैसे कम्युनिस्टों ने किसानों के बीच, मजदूरों के बीच जाकर काम किया था, उसी तरह दलितों के बीच जाकर उनमें वैचारिक जागृति पैदा करना ज़रूरी है। यह क्यों नहीं हो रहा, इसलिए कि आपके पास कैडर नहीं है।

यहां आप कह सकते हैं कि वैचारिकता के लिए उनके पास ज्योतिबा फुले हैं, अंबेडकर हैं। उन्होंने अपने समाज और वर्ग के धार्मिक और सामाजिक शोषण की बात निश्चय ही बेहद तर्कपूर्ण और गहरे विश्लेषण के साथ सामने रखी है। सवर्णों द्वारा भौतिक, शारीरिक और राजनैतिक अत्याचारों, अपार्थाइड को समझा है, मगर उनकी चिंता दलितों को राजनैतिक अस्मिता और अधिकार दिलाने की ज्यादा है। वे सिर्फ अपनी मुक्ति का दर्शन देते हैं। स्थायी मुक्ति कभी भी अकेले नहीं मिलती चाहे दलित हों या स्त्री। उन्हें अपनी मुक्ति के अभियान को अपनी तरह दूसरे मुक्ति आंदोलन के साथ जोड़कर एकजुट होने की जरूरत है—तभी स्थायी और समग्र सामाजिक मुक्ति संभव हो सकेगी। अच्छा, मुझे बताइए कि मार्क्सवादी बुद्धिजीवियों ने फुले, पेरियार, अंबेडकर की रचनाओं और सैद्धांतिक लेखन का अध्ययन उस गंभीरता से क्यों नहीं किया जिस तरह वे मार्क्सवादी शास्त्रीय ग्रंथों का करते रहे हैं?

लेकिन दलित संगठनों के नेताओं को वामपंथियों से जबर्दस्त परहेज़ है। उनके पास और कोई चला जाए, परंतु वे सतर्क रहते हैं कि कहीं कोई वामपंथी न आ जाए।

वे तो चाहेंगे ही कि कहीं कोई उनसे उनका वर्चस्व न छीन ले। कौन चाहेगा कि जिन संगठनों में उनका एकाधिकार है, उसे चैलेंज करने वाला कोई आ जाए। विरोध स्वाभाविक है। दूसरी बात यह है कि जो मध्यवर्गीय युवा पीढ़ी आ रही है उसमें से कितने आपके साथ हैं? मध्यवर्ग की युवा पीढ़ी में अधिकतर ग्लोबलाइज़ेशन कहिए, बाज़ारवाद कहिए, ये सब उसके शिकार हैं। मुझे आज एक परिवार ऐसा दिखाई नहीं देता, जिसका एक-न-एक पैर यूरोप या अमेरिका में न रखा

हो। कौन क्रांति करेगा? कौन उन्हें जागरूक करेगा? कैडर कहां से आएगा? जिन लोगों से भी आप मिलिए, किसी का भाई, किसी का बेटा विदेशों में अंधाधुंध कमा रहा है। जो पुराने लोग हैं, कब तक इस आंदोलन को चलाए रख सकेंगे? उन्हें लागू करने वाले, कार्य रूप में बदलने वाले, जो दूसरे लोग हैं, वे कहां हैं आपके पास? दूसरी बड़ी समस्या दलितों और पिछड़ों के आपसी समीकरणों को समझने की है। मुझे लगता है कि इस पर भी हमारे बुद्धिजीवियों ने अधिक काम नहीं किया कि क्यों मायावती, बी.जे.पी. के साथ मिल जाती है, मगर मुलायम सिंह को फूटी आंख नहीं देखना चाहती। ब्राह्मणवादी शोषण के शिकार तो दोनों ही बराबर हैं। आज ये दोनों वर्ग आपस में क्यों सबसे बड़े दुश्मन हैं? जिस सामंती व्यवस्था से छुटकारा पाने के लिए दलित सबसे ज्यादा संघर्ष कर रहे हैं, उसके सबसे बड़े संरक्षक और समर्थक पिछड़े हैं, वे दलितों के सबसे बड़े दुश्मन हैं।

आपकी नजर में वाम को जाति प्रश्न को हल करने के लिए क्या रणनीति अपनानी चाहिए?

इसके लिए वाम कार्यकर्ताओं को स्वयं जाति के पूर्वग्रहों से उठाना होगा। मैं सारे भारत की बात नहीं जानता, मगर हिंदी पट्टी में देखता हूं कि दिनरात प्रगतिशीलता की बात करने वाले, देशी-विदेशी उद्धरण उगलने वाले खुद कैसे भयंकर रूप से जातिवादी हैं–कोई राजपूतों-क्षत्रियों के साथ जुड़ने में गर्व महसूस करता है तो कोई ब्राह्मणों को अपना आदमी मानता है–इसका सबसे घिनौना रूप शिक्षण-संस्थाओं और सरकारी दफ्तरों में दिखाई देता है, जिसे नीची जाति वालों को रोज़ भुगतना पड़ता है। अभी मैं पिछले दिनों बिहार गया वहां एक दिन पहले प्रगतिशील लेखक संघ और सी.पी.आई. से जुड़े भूमिहार बुद्धिजीवियों ने दिन भर का समारोह किया था। डॉ. नंदकिशोर नवल को सम्मानित अभिनन्दित किया गया। चार-पांच साल पहले वाराणसी में सिंह-गिरोह ने जब नामवर जी का अभिनंदन किया तो उसे नाम दिया गया 'आलोचना-दिवस'। मैं सोचने लगा कि अगर किसी यादव-सभा ने मुझे इस तरह सम्मानित किया होता तो कितना बड़ा हंगामा उठ खड़ा होता है। (मुझे भी दर्जनों यादव सम्मेलन आमंत्रित कर चुके हैं।) राजेंद्र जी की सात पीढ़ियां तार दी जातीं। लालू, मुलायम से लेकर पप्पू यादव या अक्कू यादव के कसीदे पढ़े जाते। चाहे वे नामवर हों या मैनेजर पांडेय क्या ये छाती पर हाथ रखकर कह सकते हैं कि इन्होंने नियुक्तियां, प्रोन्नतियां सिर्फ मैरिट के आधार पर ही की हैं, जातिवादी लिहाज वहां कहीं नहीं थे? गर्वोक्ति का खतरा उठाकर भी मैं कहूंगा कि 'हंस' ने उन्नीस साल साहित्य में वह काम किया है जो न महावीर प्रसाद द्विवेदी ने किया न किसी और तीसमार खां ने। मगर जैसा कभी, प्रथम श्रेणी की अंग्रेजी कविता लिखने वाले माइकेल मधुसूदन दत्त ने झुंझलाकर कहा था कि ये गोरी चमड़ी वाले किसी काले शेक्सपियर को न बर्दाश्त कर सकते हैं न मान्यता दे सकते हैं। मधुसूदन दत्त अंग्रेजी में लिखना छोड़कर बंगला में लिखने लगे। मैंने दलितों-स्त्रियों का साथ ले लिया। अब मुझे यह चिंता नहीं है कि हिंदी में महान दिग्गज मुझे मान्यता या स्वीकृति देते हैं या नहीं। तो सबसे पहले वामपंथियों को खुद जाति से मुक्त होना पड़ेगा। उन्हें अपने अस्तित्व के लिए मरा हुआ कबीर चाहिए। जिंदा कबीर को बर्दाश्त करने का जिगर इनके पास कहां? अपनी रोटी-पानी या बौद्धिक प्रगतिशीलता के लिए इन्हें कबीर, निराला, मुक्तिबोध या परसाई उसी तरह चाहिए जैसे पंडों को राम, कृष्ण, हनुमान चाहिए।

आपकी दृष्टि से सैकुलरिज्म क्या है?

सैकुलरिज्म को हम बहुत गलत और अधूरा समझते हैं। इसका अर्थ हमारे लिए सिर्फ सांप्रदायिक एकता या सर्वधर्म समभाव जैसा कुछ है। वाम खेमे में सैकुलरवाद मुसलमानों की धार्मिक कट्टरता, संकीर्णता और उनके घेटोवाद के समर्थन का दूसरा नाम है। हम उनके उन्हीं धार्मिक तौर-तरीकों की तरफदारी करते हैं जिनसे हिंदुत्व में घृणा करते



हैं। नतीजे में बी.जे.पी. वाले आसानी से हमारे ऊपर 'मुस्लिम तुष्टिकरण' का आरोप लगाकर हिंदू धर्मांधता की आग भड़का लेते हैं। मेरी समझ में नहीं आता कि सलमान रुश्दी या तसलीमा नसरीन की रचनाओं को बंगाल में प्रतिबंधित करके उन्होंने हिंदू संप्रदायवादियों को बोलने का अवसर क्यों दिया?

सैकुलरिज्म का अर्थ मेरी समझ में धार्मिक संप्रदायवाद से भी ज्यादा जातिवाद, वर्णवाद और वर्गवाद से लड़ना भी है। बिना जाति-विरोधी हुए सैकुलरिज्म की बात करना लोगों की आंखों में धूल झोंकना है। सैकुलरिज्म सामंती वर्ण-व्यवस्था से मुक्ति की प्रक्रिया में ही उपलब्ध किया जा सकता है। आप घर परिवार चुनाव में ठाकुर, बामन, जाट, अहीर हैं और बाहर सैकुलरिज्म और समानता की बात कर रहे हैं तो इस सैकुलरिज्म को आग लगाने का मन करता है। इस पर नए सिरे से बहस की जरूरत है।

राजेंद्र जी, आपने किसी दलित को अपनी किसी कहानी का पात्र बनाया?

नहीं, मैंने नहीं बनाया। जिन क्षेत्रों में मेरा कोई अनुभव नहीं है, कहानी में मैंने उधर जाने की कोशिश नहीं की। मेरा संपर्क गांवों से किताबों के माध्यम से ज्यादा है, वहां की ज़िंदगी को वहीं जाकर अनुभव का नहीं है। इसलिए मैंने कोई कहानी गांव पर नहीं लिखी, कोई कहानी दलित पर नहीं लिखी, मुसलमानी ज़िंदगी पर नहीं लिखी। मुसलमान एकाध पात्र में आ गया हो, अलग बात है। स्त्रियों पर लिखी हैं, क्योंकि वे हमारा हिस्सा हैं। यहां एक ठोस उदाहरण देता हूं। इस समय हिंदी के सर्वश्रेष्ठ रचनाकार के रूप में मैं संजीव को महत्त्वपूर्ण मानता हूं। उसने अपनी एक-एक कहानी जिस शोध, परिश्रम, इंवाल्वमेंट और कलात्मकता के साथ लिखी है वैसी दूसरे उपन्यास भी नहीं लिखते। उसके पास निर्भ्रांत प्रगतिशील दृष्टि है, परिणाम भी कम नहीं है। मगर दूर-दराज के पश्चिमी बंगाल के कुलटी नामक स्थान में पड़े संजीव के नाम के साथ-साथ शुक्ला, मिश्रा या सिंह नहीं लगा है, न वह दिल्ली, भोपाल या लखनऊ में रहता है, इसलिए वह सिर्फ अपनी प्रतिबद्धता के चलते ही लिखता चला जा रहा है, वर्ना कौन-सा सम्मान, पुरस्कार उसे नहीं मिलना चाहिए? वह बड़ी मान्यता डिज़र्व करता है।

दलित कहानियों में किस कहानी ने आपको सबसे अधिक प्रभावित किया?

किसी एक कहानी का नाम लेना तो बहुत मुश्किल है लेकिन जो आत्मकथाएं हैं, वे ज़रूर मुझे महत्त्वपूर्ण लगती हैं। उनकी ईमानदारी, उनका साहस, हो सकता कभी-कभी साहस अतिरंजनात्मक भी हो। अपनी दयनीय दशाओं को दिखाना बहुत स्वाभाविक स्थिति है। मगर इस प्रक्रिया में या तो आप बहुत दयनीय हो जाते हैं, या ज़रूरत से ज्यादा मिलिटेंट (लड़ाकू) हो उठते हैं, लेकिन यह सही बात है कि इन दलित आत्मकथाओं को पढ़ने के बाद, मुझे तथाकथित सवर्णों द्वारा लिखा साहित्य पढ़ने का मन नहीं करता। शायद एक जगह अडार्नो ने ही लिखा है कि जर्मनों के Concentration Camps की सच्चाई जान लेने के बाद कविता लिखना असंभव हो गया है। क्योंकि इन सबको जानकर फूल-पत्तियों की बात करना, कलावादी साहित्य को पढ़कर आनंद लेना, उसके साथ जुड़ना मुश्किल हो जाता है। इन दलित आत्मकथाओं और कहानियों में फूहड़पन हो सकता है, भाषा इनकी बहुत अनगढ़ है, इसके बावजूद यह लगता है कि शक्ति और ऊर्जा यहां है। वे लड़ रहे हैं। इनका इतिहास अब शुरू हुआ है। मैं हमेशा कहता आया हूं कि दलित और स्त्री का कोई इतिहास नहीं है। स्त्री का इतिहास यह है कि वह हमारे लिए कितनी समर्पित रही, उसने कैसे अपना जीवन हमारी मर्यादाओं के लिए होम दिया, कैसे हमारे कहने पर वह आग पर चढ़ गई, वहीं वीरांगना है, वही महान है और वही पूजा की पात्र है, सती है। यही स्थिति दलित की है। जो लोग अपने फैसले खुद नहीं ले सकते, उनके इतिहास नहीं होते। दलितों का श्रम, उनकी संपत्ति मालिकों के हाथ ही होती थी। कहना यह

चाहिए कि इनकी भयावह स्थितियों को देखकर लगा कि हमें अपने साहित्य के बेसिक Norms और Cannons बदलने पड़ेंगे, उनसे काम चलेगा नहीं। क्योंकि उनमें बासीपन और दुहराव है, उसमें जड़ता है, उसमें सिर्फ अतीत है। यहां संघर्ष है, यातना है, एक सपना है, इसलिए भविष्य यहीं दिखाई देता है। जहां तक अभिजातों द्वारा दलित साहित्य की आलोचना का सवाल है तो मुझे सिर्फ एक ही उदाहरण याद आता है। रामचंद्र शुक्ल ने कबीर के लिए कहा है कि इनके पास व्याकरण नहीं है, कोई भाषा नहीं है, यहां वहां से शब्द उठाए, वहां से सूत्र उठाए, विचार सुने-सुनाए हैं, इन्हें दर्शन का कोई ज्ञान नहीं है, इन्हें शास्त्रों का ज्ञान नहीं है, इनकी कविताओं को साहित्य नहीं कहा जा सकता। यह सब उन्होंने तुलसीदास के संदर्भ में कबीर के लिए कहा था। लेकिन उनके 50-60 साल बाद स्थिति यह हो गई कि तुलसीदास धीरे-धीरे धार्मिक लोगों या प्राध्यापकों के पास ही सीमित होकर रह गए। क्या वजह है, आज कोई सेमिनार, कोई बहस या बातचीत कबीर के बिना हो नहीं सकती, भविष्य का साहित्य तो कबीर के साथ है या कबीर जैसे लोगों के साथ है, चाहे उनके पास भाषा न हो, चाहे उनके पास कलात्मक पौष्ठव, रमणीक शब्दावली या तराश न हो, उतनी खूबसूरती से वे अपनी बात को न रख सकें, मगर तिरस्कार करने की बजाए, उन्हें समझने का साहस विकसित करने की ज़रूरत है, बजाय इसके कि हम उन्हें बार-बार यह शिक्षा दें कि तुम हमारी तरह लिखो, हमारी भाषा लिखो, हमारी जैसी बारीक बयानी पैदा करो, तभी लेखक बनोगे।

सही है कि शायद मैं 'हंस' में ऐसी कहानी न छापूं जिसमें भाषा सही नहीं है, जिसमें सलीका नहीं है लिखने का। अगर उसका पात्र बोलता है तो गालियों के सिवा कुछ न हो। कारण यह है कि मैं भी तो उसी संस्कार का मारा हूं कि साहित्य क्या है। साहित्य में एक शालीनता है, एक शिष्टाचार है, ऐसा हो कि बहू-बेटियों के सामने शर्माना न पड़े, हालांकि बहू-बेटियों का नाश तो नंगी पत्रकारिता और टी.वी. पहले ही किए बैठे हैं जहां स्त्री के शरीर का कोई भी हिस्सा छिपा नहीं है। लेकिन साहित्य में हम वहीं अड़े हुए हैं। रतिक्रिया की कौन-सी मुद्रा है जो मीडिया में बेशर्मी से दिखाई नहीं जा रही, मगर हमारा ढोंग है कि लेखन में वह सब नहीं आना चाहिए। वस्तुत: साहित्य में हम, वही विक्टोरियन या आर्यसमाजी दुनिया में पड़े सड़ रहे हैं। इस जगह हम सचमुच शुतुर्मुर्गों की औलाद हैं। 'हंस' के अक्टूबर 04 के अंक में रामशरण जोशी के 'मेरे विश्वासघात' पर प्रतिक्रियाएं हमारी हिप्पोक्रेसी का ज्वलंत उदाहरण हैं।

अगर मां, बेटी, पत्नी के संस्कार बने रहें तो क्या देह से मुक्ति संभव है?

हमें दो चीज़ें ध्यान में रखनी चाहिएं। मां, बेटी, के संबंध दैहिक से ज्यादा सामाजिक हैं। प्राकृतिक संबंध तो केवल स्त्री-पुरुष का है, शेष सभी संबंध सामाजिक हैं। उन्हें Institutionalize करने की कोशिशें की गई हैं। अगर कालांतर में समाज ने संबंध निर्धारित नहीं कर दिए होते तो बाप बेटी के वही संबंध होते, जो स्त्री-पुरुष के बीच होते हैं। पौराणिक कथाओं में या आज भी अनेक समाचारों में रोज बाप द्वारा बेटी पर बलात्कार की घटनाएं सुनते हैं। अब पारिवारिक नैतिकताएं वही नहीं रह गई हैं, ज्यादा खुलापन आ गया है। स्त्री-पुरुष के आपसी और संतान के साथ संबंध बदल रहे हैं। इधर बूढ़े लगभग फालतू हो गए हैं। जिस परिवार में वे केंद्रीय बने रहते थे, अब वहां उनकी कोई जगह नहीं रह गई है।

जब स्त्री पुरुष के आपसी संबंध बदलेंगे, तो बराबरी की मांग, संपत्ति की मांग, पुरुष वर्चस्व से मुक्ति की मांग, मर्दवादी संस्थाएं और व्यवस्थाएं, भाषा-साहित्य को बदलने के दबाव के चलते ये सारे भीषण सवाल भी उठेंगे।

प्रश्न उठाया जाता है कि कौन-सी कम्युनिस्ट पार्टी है जिसके पोलित ब्यूरो में कोई दलित या स्त्री है? यह भी कहा

जाता है कि दलितों को एक सीढ़ी के बाद ऊपर नहीं आने दिया जाता। वे दूसरे या तीसरे पायदान तक आते-आते रुक जाते हैं।

कभी-कभी 'हंस' की कुछ कहानियों को पढ़कर ऐसा लगता है कि जैसे केवल देह-मुक्ति से ही स्त्री मुक्ति संभव है?

स्त्री की 5000 साल की गुलामी का इतिहास सिर्फ स्त्री की देह और उसके श्रम की गुलामी का इतिहास है। क्या आपकी संस्कृति, कला, इतिहास, साहित्य, स्त्री की देह को लेकर ही केंद्रित नहीं है? स्त्री को देह से आगे देखा ही नहीं गया। उसे खुद यह विश्वास दिला दिया गया कि तू सिर्फ देह है, तू सिर्फ सेक्स है। अगर मुक्ति वहां से नहीं शुरू होगी जहां किसी को सबसे ज्यादा जकड़ा गया है, तो किस जगह से शुरू होगी? आप उसे आर्थिक रूप से स्वतंत्र कर दीजिए, देह के प्रश्न पर फिर भी उसका ऑब्सैशन बना रहेगा। आज उसे सौंदर्य प्रतियोगिता में जाना है, फिल्मों में, टी.वी. में, ग्लैमरस दुनिया में जाना है, नौकरियों पर जाना है, हर जगह आपने उसे देह की केंद्रीयता दी है। जब भी उसकी मुक्ति की बात होगी तो पहला चरण उसकी देह है। दिक्कत वहां दूसरी है। हमने स्त्री को देह से मुक्त तो कर दिया, वह भी कहती है ठीक है, मेरी देह है, मैं उसका जो चाहे करूं। तूफान यहीं से शुरू होता है क्योंकि पूरी भारतीय संस्कृति स्त्री की देह पर टिकी है। उसे आपने ज़रा-सा ज़्यादा खोल दिया, भारतीय संस्कृति का नाश हो गया। हमारी सारी नैतिकता स्त्री की देह को लेकर ही है। पुरुष नंग-धड़ंग होकर सड़क पर पेशाब करने लगता है, औरत करने लगेगी तो हंगामा मच जाएगा। उसको आपने देह के सिवा रहने क्या दिया है? जितने दंगे-प्रदर्शन अश्लीलता को लेकर हो रहे हैं, वे सब स्त्री देह को लेकर ही हो रहे हैं। जहां आपने जिसे सबसे ज्यादा दबाया है, सबसे ज्यादा मारा है, मुक्ति की शुरुआत वहीं से होगी।

जैसे मज़दूर का न अपने श्रम पर अधिकार है, न उसके परिणाम पर। तो मज़दूर की मुक्ति श्रम की मुक्ति से शुरू होगी। स्त्री शोषण श्रम के साथ-साथ देह के साथ भी जुड़ा है। अब हो यह गया कि जिस तरह बाज़ार ने मज़दूर के श्रम को खरीद लिया, उसी तरह उन्होंने इस मुक्त स्त्री की देह को भी खरीद लिया। जब स्त्री ने कहा कि मेरी देह है, मैं जो चाहे करूं, मेरा मन है इसे दिखाऊं न दिखाऊं तो बाज़ार ने कहा कि तू दिखा जो दिखाना है, हम उसे भी बेच लेंगे। जैसे ही मजदूर सामंती कैद से छूटा, पहले जहां वह बेगारी या बंधुआ मज़दूर था, और जैसे ही वह बाजार में आया, उसका शोषण करने के लिए पूंजी तैयार बैठी थी। उसी तरह से स्त्री के साथ भी हुआ। मुक्ति मज़दूर की, दलित की या स्त्री की एक झटके में नहीं होगी, चरणों में होगी। खुले बाजार में स्त्री-मुक्ति का सवाल इसलिए भी जरूरी है कि मजदूर ने संगठित होकर ट्रेड-यूनियनें बना लीं, स्त्री अकेले-अकेले ही लड़ती मरती रही। इधर जो स्त्री संगठन बने हैं, वे उसकी मुक्ति को समग्रता देते हैं।

आपका बहुत बहुत धन्यवाद!

(साक्षात्कारकर्ता : अजेय कुमार)